अध्याय ४

दुन्दुभिर्मेघनिर्घोषो मुहुर्मुहुरताड्यत

महान् राजाओं के महान् यज्ञ : महाभारत

रामायण के समान ही महाभारत की कथा भी एक महान् यज्ञ से प्रारम्भ होकर एक महान् यज्ञ से समाप्त होती है। इन्द्रप्रस्थ नगर बसाने और वहाँ अपना राज्य ठीक से स्थापित करने के उपरान्त युधिष्ठिर एक भव्य राजसूय यज्ञ का आयोजन करते हैं। इस महान् यज्ञ के कारण ही इन्द्रप्रस्थ का सद्यस्थापित राज्य चिरकाल से चले आ रहे अत्यन्त वैभवशाली हस्तिनापुर राज्य के उत्तराधिकारी राजा दुर्योधन की ईर्ष्या का विषय बन जाता है। इस प्रकार युधिष्ठिर का यह राजसूय यज्ञ महाभारत की आगामी युगान्तकारी घटनाओं के प्रथम उपक्रम-सा दिखता है।

महाभारत के प्रायः अन्त में, भीष्म पितामह के देहावसान के पश्चात् युधिष्ठिर एक और भव्य यज्ञ का आयोजन करते हैं। युधिष्ठिर का यह महान् अश्वमेध यज्ञ उनके राज्य के चरमोत्कर्ष का द्योतक तो है ही, इस यज्ञ के समापन के साथ महाभारत की कथा का समापन भी होने लगता है। अश्वमेध के सम्पन्न होते ही महाभारत युद्ध में जीवित बचे समस्त महत्त्वपूर्ण लोग इहलोक से प्रस्थान करने लगते हैं। धृतराष्ट्र, गान्धारी एवं कुन्ती तुरन्त वनवास के लिये निकल पड़ते हैं और वहाँ गहन तपस्या करते हुए वे एक भयङ्कर दावानल में भस्म हो जाते हैं। श्रीकृष्ण यज्ञ सम्पन्न करवाकर द्वारका लौटते हैं और शीघ्र ही वे अपने समस्त वंश को आपसी कलह में नष्ट होते हुए देखते हैं। तब बलराम और श्रीकृष्ण भी परमधाम को प्राप्त हो जाते हैं। महाभारत के प्रारम्भ में श्रीकृष्ण पृथिवी पर सञ्चित पाप के भार को क्षीण करने के लिये अवतरित होते हैं। अब वे अपना कार्य सम्पन्न कर अपने ही लोक को लौट जाते हैं। उनके परलोकगमन का समाचार सुनकर द्रौपदी समेत पाँचों पाण्डव भी महाप्रस्थान के लिये निकल पड़ते हैं।

Centre for Policy Studies www.cpsindia.org

युधिष्ठिर का राजसूय यज्ञ

रामायण में भरत श्रीराम को स्मरण कराते हैं कि राजसूय यज्ञ पृथिवी के समस्त राजवंशों और सब प्रकार के शौर्य के पराभव से ही सम्पन्न हो पाता है। महाभारत में भी युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ का वर्णन पाण्डवों के अपने अपरिमेय बाहुबल एवं श्रीकृष्ण के अद्वितीय कूटनीतिक सामर्थ्य के माध्यम से पृथिवी के समस्त राजाओं के मध्य अपनी प्रधानता स्थापित करने की प्रक्रिया के रूप में ही हुआ है। भारतवर्ष की सहज राज्यव्यवस्था सर्वदा अनेक राज्यों, राजवंशों एवं जनपदों के समाहित स्वराज्यों पर ही निर्भर रही है। अपनी स्वतन्त्र अस्मिता के प्रति गर्विष्ठ एवं सतर्क इन अनेक स्वराज्यों को एक केन्द्र की ओर अभिमुख कर राज्य व्यवस्था में एक भारतवर्ष व्यापी सामञ्जस्य स्थापित करने का कार्य भारतीय परम्परा के महान् चक्रवर्ती राजा करते आये हैं। इसलिये महाभारत में युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ के सन्दर्भ में वर्णित उनके चाक्रवर्त्य की स्थापना की प्रक्रिया का सहज भारतीय राज्य व्यवस्था के अध्येताओं के लिये विशेष महत्त्व होना चाहिये। अन्न एवं अन्नदान के माहात्म्य के परिप्रेक्ष्य में इस यज्ञ को देखते हुए हम यहाँ इस यज्ञ से जुड़ी महान् राजनीतिक प्रक्रियाओं का सङ्क्षिप्त विवेचन ही कर पायेंगे।

युधिष्ठिर के सम्मुख राजसूय यज्ञ के आयोजन का विचार सर्वप्रथम नारदमुनि रखते हैं। नारदमुनि का भारतीय आर्ष परम्परा में विशिष्ट स्थान है। हाथ में वीणा और करताल लिये वे तीनों लोकों का भ्रमण करते रहते हैं और कहीं किसी हृदय में किसी भव्य आकाङ्क्षा और कहीं किसी दुर्दान्त ईर्ष्या का रोपण करते हुए वे घटनाक्रम को आगे बढ़ाते चले जाते हैं। इस प्रकार काल के अनतिक्रमणीय प्रवाह को किञ्चित् गतिशील-सा करते हुए वे भावी के सहयोगी जैसे ही दिखायी देते हैं। महाभारत के सभा पर्व के प्रायः प्रारम्भ में नारदमुनि युधिष्ठिर के लिये स्वर्गलोक से उनके पिता राजा पाण्डु का सन्देश लेकर आते हैं। स्वर्गलोक में राजा हरिश्चन्द्र की अतुलनीय शोभा देखकर राजा पाण्डु की इच्छा होती है कि उनके पुत्र राजा हरिश्चन्द्र के समान महान् राजसूय यज्ञ का अनुष्ठान करें और उस यज्ञ के प्रताप से वे स्वयं भी स्वर्गलोक में राजा हरिश्चन्द्र के समान शोभायमान् हों ।

राजा पाण्डु का यह सन्देश युधिष्ठिर को सुनाते हुए नारदमुनि उन्हें सतर्क करते हैं कि इस यज्ञ में किसी प्रकार की असावधानी होने से पृथिवी पर भयङ्कर युद्ध उपस्थित हो जाते हैं, जो क्षत्रियों के संहार एवं भूमण्डल के विनाश का कारण बन सकते हैं। इसलिये उन्हें भली भाँति सोच-विचार कर ही राजसूय यज्ञ का अनुष्ठान करना चाहिये।

युधिष्ठिर के लिये तो नारदमुनि की इस चेतावनी की कोई आवश्यकता नहीं थी। सब समय अपनी समस्त क्रियाओं के प्रति सचेत-सावधान रहना तो उनका स्वभाव ही है।अत्यन्त सोच-

विचार कर और वर्तमान एवं भावी परिस्थितियों को पूर्णतः समझकर ही युधिष्ठिर किसी कार्य के सम्पादन के प्रति उद्यत होते हैं। नारदमुनि से राजा पाण्डु का राजसूय यज्ञ सम्बन्धी सन्देश सुन वे गहन चिन्तन में डूब जाते हैं। अपने भाइयों, सभासदों एवं मन्त्रियों के साथ पुनः पुनः राजसूय यज्ञ की उपयुक्तता और ऐसे आयोजन के लिये अपने साधन-सामर्थ्य के प्राचुर्य पर विचार करते हैं। अपने समय के महान् विद्वानों, ऋत्विजों एवं महर्षियों से पुनः पुनः विनयपूर्वक यज्ञ सम्बन्धी निवेदन कर उनकी सम्मति पाते हैं। वे सब युधिष्ठिर को विश्वास दिलाते हैं कि वे राजसूय यज्ञ के सम्पादन में पूर्णतः समर्थ हैं। तथापि राजा युधिष्ठिर इस विषय में निश्चिन्त नहीं हो पाते।

अन्ततः युधिष्ठिर श्रीकृष्ण से मन्त्रणा करने का निश्चय करते हैं और शीघ्रगामी दूत भेजकर उन्हें द्वारका से बुलवा लेते हैं। इन्द्रप्रस्थ पहुँच श्रीकृष्ण सभी पाण्डव बन्धुओं और उनकी माँ एवं अपनी बुआ कुन्ती से प्रीतिपूर्वक मिलने के उपरान्त तुरन्त युधिष्ठिर के साथ यज्ञ सम्बन्धी विचार-विमर्श में लग जाते हैं। सर्वप्रथम श्रीकृष्ण भी युधिष्ठिर को यही विश्वास दिलाते हैं कि उनमें राजसूय यज्ञ का अनुष्ठान करने योग्य सभी गुण विद्यमान हैं – सर्वैर्गुणैर्महाराज राजसूयं त्वमर्हसि।[१] इस प्रकार युधिष्ठिर को आश्वस्त करके श्रीकृष्ण उन्हें भारतवर्ष में उस समय स्थापित राजनीतिक सन्तुलन का विहङ्गम अवलोकन करवाने लगते हैं। वे युधिष्ठिर के लिये उस समय के समस्त राजवंशों, क्षत्रियकुलों एवं प्रधान शूरवीरों के बल व निर्बलता का सापेक्ष वर्णन करते हैं, उन वंशों, कुलों व वीर पुरुषों के मध्य परस्पर मैत्री एवं विग्रह का चरित्र सुनाते हैं और युधिष्ठिर की चाक्रवर्त्य की अभिलाषा के प्रति उन सबकी वर्तमान एवं सम्भावी अभिवृत्तियों का विवेचन करते हैं।

श्रीकृष्ण के इस सङ्क्षिप्त अपितु गहन एवं विशद विश्लेषण का मुख्य तथ्य यह है कि भारतवर्ष में उस समय व्याप्त राजनीतिक सन्तुलन के केन्द्र में मध्यभारत के मगधराज्य के सम्राट, बृहद्रथ के पुत्र महाबली जरासंध विराजमान हैं। वर्तमान सन्तुलन को परिवर्तित कर धर्मराज युधिष्ठिर का चाक्रवर्त्य स्थापित करने के लिये जरासंध का वध अनिवार्य है। जब तक भारतवर्ष की राजनीति को बलपूर्वक अपनी ओर अभिमुख किये रखने वाले महाबली जरासंध जीवित हैं तब तक युधिष्ठिर के राजसूय का निर्विघ्न सम्पन्न हो पाना सम्भव नहीं। ऐसा श्रीकृष्ण का स्पष्ट मत है – न तु शक्यं जरासंधे जीवमाने महाबले राजसूयस्त्वयावाप्तुमेषा राजन् मतिर्मम।[२]

---

[१] महाभारत *सभा* १४.१, पृ.७०६।
[२] महाभारत *सभा* १४.६२, पृ.७१०।

जरासंध वध

महाबली जरासंध कदाचित् वध के योग्य ही है। उसने चाक्रवर्त्य धर्म की अवहेलना कर अपने सैनिक बल से पराजित राजाओं को गिरिव्रज की पर्वतीय कन्दराओं में कारावद्ध कर रखा है। भारतवर्षव्यापी राजनीतिक सामञ्जस्य का संरक्षक बनने की सहज चाक्रवर्त्य वृत्ति को छोड़ वह समस्त राजाओं में परस्पर फूट डालने की नीति पर आचरण करता है। फूट की इस कुटिल नीति से ही उसने एक-एक कर अनेक राजाओं को पराजित किया है और भारतवर्ष के छियासी प्रतिशत राजाओं को बन्धक बना लिया है। शेष चौदह प्रतिशत राजाओं को भी कारावद्ध करने के प्रयास में वह रत है। श्रीकृष्ण की सम्मति है कि महाबली जरासंध के इस धर्मविरुद्ध क्रूर कर्म को रुद्ध करने वाला निश्चय ही उज्ज्वल यश का भागी होगा।

जरासंध सामान्य सैनिक कर्म से अजेय है। रण में उसे जीत पाना सम्भव नहीं। वैसे भी श्रीकृष्ण नहीं चाहते कि जरासंध सशस्त्र युद्ध करता हुआ वीरोचित गति को प्राप्त हो। सशस्त्र युद्ध में मरकर तो क्षत्रिय सत्कृत ही होता है। इसलिये श्रीकृष्ण उसे निश्शस्त्र द्वन्द्वयुद्ध में मरवाने का विचार करते हैं। युधिष्ठिर की सम्मति से वे केवल अर्जुन और भीमसेन को साथ लेकर किसी सैन्यबल के बिना ही जरासंध की राजधानी में पहुँचते हैं। वहाँ श्रीकृष्ण अपनी बुद्धि का आश्रय ले जरासंध से भीमसेन के साथ द्वन्द्वयुद्ध करना स्वीकार करवा लेते हैं। भीमसेन तो मल्लयुद्ध में अजेय ही हैं। तथापि जरासंध को परास्त करने के लिये उन्हें दीर्घकाल तक जूझना पड़ता है। कार्तिक मास के पूरे कृष्ण पक्ष भर उन दोनों में दिन-रात युद्ध चलता रहता है। तब कहीं जरासंध का अन्त हो पाता है।

जरासंध के वध के उपरान्त श्रीकृष्ण भीमसेन और अर्जुन के साथ स्वयं जाकर गिरिव्रज की कन्दराओं में कारावद्ध राजाओं को मुक्त करते हैं। इस प्रकार पृथिवी के बहुसंख्यक नरेश सहज ही युधिष्ठिर के कृतज्ञ हो जाते हैं। जरासंध का पुत्र सहदेव भी श्रीकृष्ण की शरण में आकर अभय की याचना करता है। भीमसेन से जूझने से पूर्व महाबली जरासंध अपने पश्चात् सहदेव के राज्याभिषेक की अनुमति देकर जाते हैं। अब स्वयं श्रीकृष्ण सहदेव को मगधराज्य के शासक पद पर अभिषिक्त करते हैं और उसके हाथों से अमूल्य रत्नादि की भेंट स्वीकार कर उसे अभय प्रदान करते हैं। इस प्रकार मगध नरेश सहदेव युधिष्ठिर के चाक्रवर्त्य की स्थापना के प्रयास में पाण्डवों का सहयोगी बन जाता है।

दिग्विजय एवं चाक्रवर्त्य

पृथिवी के राजाओं की निष्ठा के प्रधान पात्र महाबली जरासंध के वध के पश्चात् युधिष्ठिर के चाक्रवर्त्य की स्थापना का कार्य सहज गति से चलने लगता है। युधिष्ठिर के चारों भाई चार

दिशाओं में उनकी प्रधानता स्थापित करने निकल पड़ते हैं। महामति कृष्णद्वैपायन व्यास के परामर्श से अर्जुन देवसंरक्षित उत्तर दिशा में जाते हैं, भीमसेन पूर्व की ओर बढ़ते हैं, महाबली सहदेव दक्षिण की ओर प्रस्थान करते हैं और नकुल वरुणपालित पश्चिम दिशा की यात्रा पर निकलते हैं। पाण्डव बन्धु सब दिशाओं में पृथिवी के अन्तिम छोर तक पहुँचते हैं। अर्जुन उत्तर में कश्मीर, मानसरोवर, हेमकूट आदि को लाँघकर मेरु पर्वत तक पहुँचते हैं। पूर्व में भीमसेन समुद्र तट तक पहुँचते हैं और उसके आगे समुद्र पार के द्वीपों तक हो आते हैं। दक्षिण दिशा में सहदेव समुद्र तट तक पहुँच वहाँ से घटोत्कच को राजा विभीषण से युधिष्ठिर का चाक्रवर्त्य स्वीकार करवाने लङ्का भेजते हैं। नकुल भी पश्चिम दिशा के सब राजाओं की श्रद्धा स्वीकार करते हुए समुद्र तट तक पहुँचते हैं और वहाँ से आगे बढ़ समुद्र द्वीपों में रहने वाले म्लेच्छ, किरात, पह्लव, बर्बर, यवन एवं शक वीरों को अपने पराक्रम का परिचय देकर इन्द्रप्रस्थ लौटते हैं।

पाण्डव बन्धुओं की इस दिग्विजय में कतिपय राजा ही किसी प्रकार का विघ्न डालने का प्रयास करते हैं। अपने समय के अधिकतर महापराक्रमी राजा तो पाण्डव बन्धुओं के शौर्य, युधिष्ठिर की धर्मनिष्ठा और उन सब के प्रति श्रीकृष्ण के अत्यन्त मैत्रीभाव का वृत्तान्त सुनकर ही युधिष्ठिर की प्रधानता स्वीकार कर लेते हैं। इस प्रकार लङ्काराज विभीषण, चेदिराज शिशुपाल एवं मद्रराज शल्य जैसे महान् शौर्यवान् नरेश प्रीतिपूर्वक ही युधिष्ठिर का चाक्रवर्त्य स्वीकार करते हुए पाण्डव बन्धुओं को अनेक बहुमूल्य उपहारों से सत्कृत करते हैं। जब कभी कोई महान् राजा किसी पाण्डव के साथ युद्ध के लिये उद्यत होता है, तो वह भी प्रायः पाण्डवों के विख्यात शौर्य की समुचित परीक्षा लेने के भाव से ही युद्ध में उतरता प्रतीत होता है। प्राग्ज्योतिषपुर के महापराक्रमी राजा भगदत्त पूरे आठ दिन तक अर्जुन से जूझते हैं और इस लम्बे युद्ध के पश्चात् भी अर्जुन को निष्क्लान्त देख हँसते हुए उसके बल की प्रशंसा करने लगते हैं। उत्तर में अर्जुन उनसे निवेदन करते हैं कि आप तो हमारे पितृव्य से हैं, आपको मैं आज्ञा नहीं दे सकता, आपसे प्रार्थना ही कर सकता हूँ कि आप प्रीतिपूर्वक युधिष्ठिर के चाक्रवर्त्य को स्वीकार करते हुए उनके राजसूय यज्ञ के लिये उपयुक्त भेंट-उपहार दीजिये। ऐसे ही किष्किन्धा के वानरराज मैन्द एवं द्विविद सात दिन तक बिना झुके सहदेव के साथ जूझने के पश्चात् अत्यन्त प्रसन्नता से उसे अमूल्य भेंट-उपहार प्रदान करते हुए युधिष्ठिर के कार्य की निर्विघ्न समाप्ति की कामना करते हैं।

इस प्रकार अधिकतर युद्ध बिना जय-पराजय का निर्णय हुए ही समाप्त हो जाते हैं। परन्तु जब कहीं पाण्डव बन्धु किसी राजा को अपने पराक्रम एवं सैनिक बल से निर्णायक पराजय की स्थिति में पहुँचा देते हैं तब भी वे उसी परास्त राजा को ही पुनः अपने राज्य पर अभिषिक्त करके लौटते हैं। शकों, हूणों, बर्बरों, पह्लवों और यवनों जैसी म्लेच्छ जातियों पर विजय पाने के

पश्चात् भी दिग्विजय पर निकले पाण्डव बन्धु उन्हीं म्लेच्छों को उनके राज्य का उत्तरदायित्व सँभाल आते हैं।

भारतीय परम्परा में सभी जनों का यह सहज अधिकार माना गया है कि वे अपने ही प्रतिष्ठित अग्रजनों की प्रमुखता में, अपने कुल, जाति एवं देशधर्म के अनुरूप, अपनी ही रीति-नीति से अपना स्वराज्य चलायें। स्वराज्य का यह अधिकार पराजित एवं म्लेच्छ जनों के लिये भी अक्षुण्ण बना रहता है। दिग्विजय पर निकले पाण्डवों द्वारा अपने हाथों पराजित अपने-पराये सभी राजाओं को पुनः अपने राज्य पर प्रतिष्ठित करते जाने का कर्म भारतीय राजनीतिक परम्परा की प्रायः आधारशिला सदृश मान्य स्वराज्य के सिद्धान्त का एक सुस्पष्ट उदाहरण है। पाण्डव बन्धुओं के शौर्य एवं युधिष्ठिर के चाक्रवर्त्य को स्वीकार कर कोई राजा या कोई प्रजा अपने राज्य के भीतर स्वराज्य चलाने के अधिकार से वञ्चित नहीं होती। अपितु युधिष्ठिर का धर्मनिष्ठ चाक्रवर्त्य तो सभी राजाओं और प्रजाओं के स्वराज्य के अधिकार की अक्षुण्णता की प्रत्याभूति-सा ही है। किसी राजा द्वारा युधिष्ठिर के चाक्रवर्त्य की स्वीकृति राज्य में पधारे पाण्डव के स्वागत-सत्कार और राजा युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ के लिये समुचित भेंट-उपहार देने मात्र से ही सम्पादित हो जाती है। पाण्डव बन्धुओं की किसी राजा से इससे अधिक की अपेक्षा नहीं दिखती, चाहे वह राजा प्रीतिपूर्वक युधिष्ठिर के चाक्रवर्त्य को स्वीकार कर रहा हो और चाहे भीषण युद्ध में परास्त हो कर। भारतवर्ष की राज्य व्यवस्था में युधिष्ठिर की प्रधानता स्वीकार करवा भारतवर्ष के समस्त राजाओं के साथ परस्पर आदर-सम्मान का सम्बन्ध स्थापित करना ही पाण्डवों की दिग्विजय यात्राओं का प्राप्य है।

यज्ञारम्भ का उपक्रम

पृथिवी के राजाओं में अपनी प्रधानता स्थापित करने और भारतवर्ष की राजनीति को अपनी ओर अभिमुख करने के उपरान्त राजा युधिष्ठिर निश्चयपूर्वक राजसूय यज्ञ के आयोजन के उपक्रम में लगते हैं। अपनी दिग्विजय यात्राओं से पाण्डव अनन्त धन-सम्पदा एकत्र करके लाते हैं। इसके अतिरिक्त युधिष्ठिर जैसे महान् पराक्रमी और धर्मनिष्ठ सम्राट की राजधानी में पृथिवी के विभिन्न राजा भेंट-उपहार लेकर आते ही रहते हैं। इस प्रकार जुटी धन-सम्पदा और धर्मपूर्वक होने वाली अन्य आय से युधिष्ठिर का कोष अत्यन्त समृद्ध होने लगता है। इस सम्भृत सम्पत्ति का प्रजा में पुनः प्रसार करने के लिये राजा युधिष्ठिर के लिये अब राजसूय यज्ञ का आयोजन करना अपरिहार्य-सा हो जाता है। इस स्थिति का वर्णन करते हुए महाभारत के रचयिता महर्षि व्यास लिखते हैं –

धर्म्यैर्धनागमैस्तस्य ववृधे निचयो महान्।
कर्तुं यस्य न शक्येत क्षयो वर्षशतैरपि।
स्वकोष्ठस्य परीमाणं कोशस्य च महीपतिः।
विज्ञाय राजा कौन्तेयो यज्ञायैव मनो दधे॥[3]

धर्मपूर्वक प्राप्त होने वाली आय से उनका महान् कोष इतना समृद्ध हुआ कि कई सौ वर्षों तक उपभोग करके भी उसको क्षीण करना सम्भव नहीं था। अपने कोष एवं अन्न-वस्त्रादि के अपने भण्डारों का परिमाण जानकर राजा युधिष्ठिर ने यज्ञ के आयोजन के प्रति ही अपने चित्त को केन्द्रित किया।

युधिष्ठिर के इस प्रकार यज्ञ करने का निश्चय करने के तुरन्त पश्चात् श्रीकृष्ण स्वयं द्वारका से विशाल सेना एवं असीम धन राशि लेकर इन्द्रप्रस्थ आ पहुँचते हैं। युधिष्ठिर उनका सप्रेम स्वागत कर उन्हें अपने यज्ञ सम्बन्धी निश्चय से अवगत कराते हैं। राजसूय यज्ञ के अनुष्ठान के पक्ष में श्रीकृष्ण की सम्मति पाते ही वे यज्ञ के आयोजन के लिये विस्तृत निर्देश देने लगते हैं। अब यज्ञ के लिये सब उपक्रम राजा दशरथ और श्रीराम के अश्वमेध यज्ञों के समान ही होने लगते हैं। यज्ञ के सम्पादन के लिये प्रधान ऋत्विज चुने जाते हैं, पृथिवी के सब राजाओं और उनकी समस्त प्रजाओं को सम्मानपूर्वक बुला लाने के लिये दूत भेजे जाते हैं, महान् स्थपतियों और अन्य शिल्पियों को यज्ञभूमि पर भव्य मण्डपों और अतिथियों-अभ्यागतों के लिये उपयुक्त प्रासादों एवं शय्यागृहों आदि के निर्माण में लगाया जाता है, इन सब मण्डपों, प्रासादों एवं घरों को सभी प्रकार के साधन-उपकरणों और अन्नपान की समुचित सामग्री से परिपूर्ण किया जाता है, पृथिवी के सर्वश्रेष्ठ पाकशास्त्रियों को अथाह मात्रा में दुर्लभ पकवान बनाने के कार्य में लगाया जाता है। क्योंकि राजा युधिष्ठिर अभी-अभी सम्पूर्ण पृथिवी को जीतकर अनन्त धन-वैभव को प्राप्त हुए हैं, इसलिये उनके यज्ञ के सब उपक्रम अपेक्षाकृत अधिक उदारता एवं भव्यता से होते हैं और कौरवों और यादवों समेत पृथिवी के समस्त महापराक्रमी एवं वैभवशाली राजा उनके यज्ञ में उपस्थित होते हैं। इन सबके भोजन-शयन आदि की व्यवस्था भी उनके और राजा युधिष्ठिर के बल-वैभव के अनुरूप अत्यन्त भव्य स्तर पर की जाती है।

यज्ञारम्भ एवं अन्नदान

सब उपक्रमों के सम्पन्न होने पर यज्ञ प्रारम्भ होता है। यज्ञभूमि में अन्नदान तो बहुत पहले

[3] महाभारत *सभा* ३३.७-८, पृ.७६७।

से ही चलने लगता है और यज्ञ के सब आयोजन और सभी विधि-विधान एक भव्य अन्नदान की पृष्ठभूमि में ही होते दिखायी देते हैं। राजा युधिष्ठिर के इस यज्ञ के अन्य सभी उपक्रमों के अनुरूप उनका अन्नदान भी विशेष उदार स्तर पर होता है। महर्षि व्यास के अनुसार उस यज्ञभूमि में चारों ओर अन्न परोसते जाने की प्रेरणा और अन्न ग्रहण करने की प्रार्थना के शब्द ही सर्वदा सुनायी पड़ते हैं –

दीयतां दीयतामेषां भुज्यतां भुज्यतामिति।
एवम्प्रकाराः संजल्पाः श्रूयन्ते स्मात्र नित्यशः।[४]

अपने कोष के असीमित परिमाण के अनुरूप राजा युधिष्ठिर इस यज्ञ में अथाह रत्नादि का दान भी करते चले जाते हैं। परन्तु सुवर्ण, रजत एवं रत्नादि के इस अबाध प्रवाह के मध्य भी सभी को अन्न से तृप्त करने और सभी को हृष्ट, पुष्ट एवं तुष्ट देखने का आग्रह सर्वदा बना रहता है। इस भव्य यज्ञ में चल रहे भव्य अन्नदान का वर्णन करते हुए महर्षि व्यास लिखते हैं –

सर्वाञ्जनान् सर्वकामैः समृद्धैः समतर्पयत्।
अन्नवान् बहुभक्ष्यश्च भुक्तवज्जनसंवृतः।
रत्नोपहारसम्पन्नो बभूव स समागमः।
इडाज्यहोमाहुतिभिर्मन्त्रशिक्षाविशारदैः।
तस्मिन् हि ततृपुर्देवास्तते यज्ञे महर्षिभिः।
यथा देवास्तथा विप्रा दक्षिणान्नमहाधनैः।
ततृपुः सर्ववर्णाश्च तस्मिन् यज्ञे मुदान्विताः॥[५]

राजा युधिष्ठिर ने उस यज्ञ में आये सब जनों की समस्त कामनाओं को पूर्णतया तृप्त किया। वह यज्ञ अन्न से परिपूर्ण था, वहाँ सब प्रकार के पकवान सदा प्रस्तुत रहते थे। वह समागम भली-भाँति भोजन किये हुए और रत्नादि के उपहारों से सम्पन्न लोगों से ही भरा हुआ था।

मन्त्र-शिक्षा में निपुण महर्षि मन्त्रोच्चारण रूपी इडा आहुतियों से और दुग्ध-घृत आदि से संयुक्त आज्य आहुतियों से होम करते हुए देवताओं को तृप्त कर रहे थे।

[४] महाभारत *सभा* ३३.५१, पृ.७७०।
[५] महाभारत *सभा* ३५.१७-१९, पृ.७७३।

जिस प्रकार देवता तृप्त हुए उसी प्रकार विप्रजन भी अथाह अन्न एवं धन की दक्षिणा पाकर तृप्त हो रहे थे, और वैसे ही अन्य सभी वर्ण उस यज्ञ में प्रसन्नता एवं तृप्ति को प्राप्त हो रहे थे। उस यज्ञ में सभी सन्तुष्ट एवं तृप्त ही दिखायी देते थे।

युधिष्ठिर को अश्वमेघ यज्ञ के लिये प्रेरित करना

युधिष्ठिर का विषाद

राजसूय यज्ञ के निर्विघ्न सम्पन्न होने के उपरान्त घटनाक्रम तीव्र गति से चलने लगता है। दुर्योधन सम्राट युधिष्ठिर के ऐश्वर्य एवं वैभव के प्रति ईर्ष्यालु हो छलपूर्वक द्यूतकर्म से पाण्डवों का राज्य छीनने और उन्हें वनवास में भेजने का उपक्रम करने लगते हैं। इन विषाक्त घटनाओं का उपसंहार अन्ततः भयङ्कर महाभारत युद्ध में होता है, जिसमें पृथिवी के प्रायः समस्त क्षत्रियों का संहार हो जाता है और सम्पूर्ण पृथिवी ही मानो विनाश को प्राप्त होती है।

महाभारत युद्ध की समाप्ति पर युधिष्ठिर युद्ध में हुए अपने सगे-सम्बन्धियों के भयङ्कर संहार और सर्वव्यापी विनाश का स्मरण कर गहन विषाद में डूब जाते हैं। उनके सुहृद्-स्नेहियों के लिये उनके विषाद को शान्त करना असम्भव सा दिखता है। सारे संहार एवं विनाश के लिये स्वयं अपने को दोषी मानते हुए वे महान् पुरुषार्थ से प्राप्त अपनी विजय को तिरस्कृत कर संन्यासरत होना चाहते हैं। युधिष्ठिर के परम पराक्रमी भाई अर्जुन, भीमसेन, नकुल एवं सहदेव, उनकी अत्यन्त धैर्यशीला पत्नी द्रौपदी, स्वयं श्रीकृष्ण और यहाँ तक कि कुरुवंश के पितामह और महाभारत महाकाव्य के प्रणेता श्रीकृष्णद्वैपायन व्यास भी युधिष्ठिर को आत्मवञ्चनात्मक अपरिग्रह के इस मार्ग से लौटाने का प्रयास करते हैं। वे पुनः पुनः उन्हें अपने विषाद को भुला स्वस्थ होकर अपने राज्य को सँभालने और पृथिवीपालन एवं यज्ञसम्पादन के क्षत्रियोचित कर्मों में रत होने की सम्मति देते हैं।

युधिष्ठिर को पुनः पुनः समझाते हुए उनके सुहृद्-स्नेही उनके मोहजनित विषाद से प्रायः क्षुब्ध से होते दिखायी देते हैं। द्रौपदी तो युधिष्ठिर की हस्तिनापुर के राजसिंहासन के प्रति विरक्ति को देख अत्यन्त दुःख एवं रोष से भर उठती हैं। धैर्यपूर्वक दीर्घ वनवास का दुःख झेलने और युद्ध में महान् पराक्रम दिखाने के पश्चात् पाण्डवों को प्राप्त विजय का तिरस्कार वे सहन नहीं करना चाहतीं। युधिष्ठिर के इस व्यवहार को समझने में वे अपने को असमर्थ पाती हैं। उन्हें ऐसा प्रतीत होता है मानो युधिष्ठिर उन्मत्त-से हो गये हैं और जिनका ज्येष्ठ भाई उन्मत्त हो गया हो वे अनुज तो उसका अनुकरण करेंगे ही। वे अत्यन्त तीक्ष्ण शब्दों में युधिष्ठिर को सचेत करती हैं कि यदि

वे सायास अपने उन्माद से उबरकर पृथिवी का शासन नहीं सँभालते तो शीघ्र ही वे किसी अकथनीय विपत्ति में पड़ जायेंगे।

अपने भाइयों एवं द्रौपदी के इस प्रकार कठोर उपालम्भपूर्वक प्रचोदन और श्रीकृष्ण, महर्षि व्यास एवं अन्य ऋषियों-मुनियों के गहन उपदेश के उपरान्त ही युधिष्ठिर हस्तिनापुर के सिंहासन पर अभिषिक्त होना स्वीकार करते हैं। परन्तु श्रीकृष्ण कदाचित् अभी भी युधिष्ठिर की मनोस्थिति के प्रति पूर्णतया आश्वस्त नहीं हो पाते। युधिष्ठिर के राज्याभिषेक के तुरन्त पश्चात् वे उन्हें भीष्म पितामह के समीप जाकर उनसे राजधर्म की शिक्षा लेने का परामर्श देते हैं। युद्ध में शिखण्डी के निमित्त से मर्मान्तक घायल हो भीष्म पितामह कुरुक्षेत्र में शरशय्या पर लेटे हुए सूर्य के उत्तरायण होने की प्रतीक्षा कर रहे हैं। श्रीकृष्ण युधिष्ठिर को समझाते हैं कि भीष्म पितामह कुरुवंश पर चमकने वाले ज्ञान के प्रकाशपुञ्ज हैं, उनके जाने से यह ज्ञानसूर्य सदा के लिये अस्त हो जायेगा। इसलिये श्रीकृष्ण चाहते हैं कि युधिष्ठिर भीष्म के देहावसान से पूर्व उनसे धर्म की समुचित शिक्षा ग्रहण करें। श्रीकृष्ण के शब्दों में–

तस्मिन्नस्तमिते भीष्मे कौरवाणां धुरंधरे।
ज्ञानान्यस्तं गमिष्यन्ति तस्मात् त्वां चोदयाम्यहम्॥[६]

युधिष्ठिर अपने चारों भाइयों और वृष्णिवीर सात्यकि को साथ लेकर एवं स्वयं श्रीकृष्ण को आगे कर भीष्म पितामह के चरणों में बैठ धर्मविषयक प्रश्न पूछने लगते हैं। गहन विषाद के कारण राजधर्म से विरक्त हुए युधिष्ठिर का भीष्म पितामह से पहला प्रश्न यह है कि –

राज्ञां वै परमो धर्म इति धर्मविदो विदुः।
महान्तमेतं भारं च मन्ये तद् ब्रूहि पार्थिव॥[७]

धर्मज्ञ विद्वानों का मानना है कि राजधर्म ही परम धर्म है। परन्तु मुझे तो यह महान् बोझ सा ही प्रतीत होता है। अतः राजन्! आप मुझे इस विषय में बताइये।

भीष्म युधिष्ठिर को धर्म के सब पक्षों के विषय में और विशेषतया राजधर्म के विषय में अत्यन्त विस्तार से उपदेश देते हैं। महाभारत महाकाव्य के प्रायः सम्पूर्ण शान्ति पर्व और सम्पूर्ण अनुशासन पर्व में भीष्म के इस वृहद् उपदेश का वर्णन हुआ है। भीष्म पितामह का यह धर्मविषयक

[६] महाभारत *शान्ति* ४६.२३, पृ.४५३१।
[७] महाभारत *शान्ति* ५६.२, पृ.४५६०।

उपदेश प्रायः सूर्य के उत्तरायण में प्रवेश करने पर्यन्त चलता है और तब वे अपने ही सङ्कल्प के अनुरूप प्राण त्याग कर वसुलोक को प्राप्त होते हैं।

अश्वमेध की प्रेरणा

भीष्म पितामह के वृहद् उपदेश के उपरान्त भी युधिष्ठिर पूर्णतया विषादमुक्त एवं स्वस्थ नहीं हो पाते। अपितु भीष्म पितामह के अवसान से वह और भी गहन शोक व अवसाद में डूबते प्रतीत होते हैं। इस अवस्था में श्रीकृष्ण एवं महर्षि कृष्णद्वैपायन व्यास उन्हें अश्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान कर युद्धजनित पापों का प्रायश्चित्त करने की सम्मति देते हैं।

इस समय तक श्रीकृष्ण एवं महर्षि व्यास युधिष्ठिर के अन्तहीन विषाद के प्रति खिन्न से हो चुके हैं। उनकी बातों में अब तीव्रता एवं शीघ्रता का भाव दिखायी देता है। श्रीकृष्ण युधिष्ठिर को कहते हैं कि अपने सुहृदों की मृत्यु पर अतीव शोक करने वाला व्यक्ति उन परलोकवासी सुहृद् पितरों को ही सन्ताप में डाल देता है। आगे वे युधिष्ठिर को समझाते हैं कि इस विषय में जो भी जानने योग्य है वह सब उन्हें बताया जा चुका है, मृत सुहृदों के लिये जो कर्म करने योग्य हैं, वे सब भी उन्होंने सम्पन्न कर लिये हैं। अब तो मूढ़ पुरुषों की वृत्ति का अनुसरण करते हुए शोक-मग्न रहने का कोई कारण नहीं बचा। अतः अब उन्हें स्वस्थ हो अतिथियों एवं शेष सब को अन्न-जल और अन्य वाञ्छित वस्तुओं से सन्तुष्ट करने के कार्य में लग जाना चाहिये, अब तो उन्हें नाना प्रकार के महान् यज्ञ कर क्षत्रियोचित रीति से देवों एवं पितरों को तृप्त करने का उपक्रम करना चाहिये। श्रीकृष्ण का स्पष्ट आदेश है – यजस्व विविधैर्यज्ञैर्बहुभिः स्वाप्तदक्षिणैः।[८]

महर्षि व्यास तो और भी स्पष्टता से युधिष्ठिर को बतलाते हैं कि उनके असहज विषाद के प्रति अब वे और धैर्य नहीं रख सकते। वे युधिष्ठिर को कहते हैं कि गुरुजनों के सारे उपदेश एवं शिक्षा के उपरान्त भी उनकी बुद्धि शुद्ध हुई नहीं दिखती, वे अभी भी बालोचित अविवेक का आश्रय लेकर मोह में ही पड़े हैं। ऐसी स्थिति में गुरुजनों के और कुछ कहने का क्या लाभ? महर्षि व्यास को लगता है कि गुरुजनों का उपदेश तो युधिष्ठिर के लिये व्यर्थ प्रलाप-सा ही हो गया है। वे साग्रह युधिष्ठिर से पूचते हैं – किमाकारा वयं तात प्रलपामो मुहुर्मुहुः।[९]

परन्तु एकदा पुनः युधिष्ठिर को समझाने का प्रयास करते हुए वे कहते हैं कि उन्हें अब सब प्रकार का विलाप-प्रलाप छोड़कर महान् यज्ञों के अनुष्ठान में चित्त स्थिर करना चाहिये, क्योंकि यज्ञों के अनुष्ठान से ही सब पापों का प्रतिकार होता है। महर्षि व्यास का कहना है –

---

[८] महाभारत *आश्वमेधिक* २.३, पृ.६१००।

[९] महाभारत *आश्वमेधिक* २.१६, पृ.६१०१।

आत्मानं मन्यसे चाथ पापकर्माणमन्ततः।
शृणु तत्र यथापापमपकृष्येत भारत।
तपोभिः क्रतुभिश्चैव दानेन च युधिष्ठिर।
तरन्ति नित्यं पुरुषा ये स्म पापानि कुर्वते॥[१०]

भारत युधिष्ठिर! यदि अन्ततः तुम स्वयं अपने को ही युद्धजनित पाप का कारण मानते हो तो सुनो कि इस प्रकार किये गये पाप का प्रायश्चित्त कैसे किया जाता है। युधिष्ठिर! जिन पुरुषों से कोई पापकर्म बन पड़ता है वे सदा यज्ञ, तप एवं दान से ही उस पाप से मुक्ति पाते हैं।

आगे महर्षि व्यास कहते हैं कि पापमोक्षण के इन तीन उपायों में से साधन-सामर्थ्य सम्पन्न जनों के लिये यज्ञ ही श्रेष्ठ है। मानव ही नहीं, देव और दानव भी पुण्य प्राप्ति के लिये यज्ञ का ही आश्रय लेते हैं। अतः आपको भी यज्ञों में ही प्रवृत्त होना चाहिये। महर्षि व्यास युधिष्ठिर को विशेषतः अश्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान करने की सम्मति देते हुए आदेशपूर्वक कहते हैं –

यजस्व वाजिमेधेन विधिवद् दक्षिणावता।
बहुकामान्नवित्तेन रामो दाशरथिर्यथा।
यथा च भरतो राजा दौष्यन्तिः पृथिवीपतिः।
शाकुन्तलो महावीर्यस्तव पूर्वपितामहः॥[११]

अश्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान करो। अत्यन्त दक्षिणा से परिपूर्ण विधिवत् अश्वमेध यज्ञ का सम्पादन करो। ऐसा यज्ञ करो कि आने वाले सब लोग अन्न, धन एवं अनेक प्रकार के मनोवाञ्छित पदार्थ प्राप्त कर तृप्त हो जायें। ऐसा महान् यज्ञ करो जैसा कि दशरथपुत्र श्रीराम ने किया था और जैसा अश्वमेध तुम्हारे पूर्वपितामह शकुन्तला एवं दुष्यन्त के पुत्र महावीर्यवान् पृथिवीपति राजा भरत ने किया था।

राजा मरुत्त के कोष का आविष्कार

परन्तु राजा युधिष्ठिर तो अभी भी अपने शोक से निवृत्त नहीं हो पाते। वे महर्षि व्यास से पूछते हैं कि अपने सगे-सम्बन्धियों का इतना व्यापक संहार करवाने और सम्पूर्ण पृथिवी को

[१०] महाभारत *आश्वमेधिक* ३.३-४, पृ.६१०२।
[११] महाभारत *आश्वमेधिक* ३.९-१०, पृ.६१०२।

वैभवविहीन करने के पश्चात् अब उनके पास महान् अश्वमेध का आयोजन करने के लिये पर्याप्त धन-साधन भला कहाँ से आ पायेंगे?

युधिष्ठिर के इस प्रकार दीन-हीन हो प्रश्न पूछने पर महर्षि व्यास उन्हें हिमालय पर्वत पर युगों से गुप्त पड़े राजा मरुत्त के महान् कोष के बारे में बताते हैं। बहुत पहले त्रेता युग में इक्ष्वाकुवंश में महापराक्रमी धर्मज्ञ एवं चक्रवर्ती राजा मरुत्त हुए थे। उन्होंने अश्वमेध यज्ञ करने के उद्देश्य से हिमालय पर्वत के उत्तर भाग में मेरु पर्वत के समीप भव्य यज्ञशाला का निर्माण करवा वहाँ अथाह धन-सम्पत्ति का सञ्चय किया। सब उपक्रम सम्पन्न कर वे अपने कुल पुरोहित ऋषि अङ्गिरा के पुत्र बृहस्पति के पास यज्ञ करवाने का अनुरोध लेकर पहुँचे। परन्तु मरुत्त के वैभव से ईर्ष्यालु हो देवराज इन्द्र पहले ही बृहस्पति का देवपुरोहित के रूप में वरण कर उनसे मनुष्यों का यज्ञ न करवाने की प्रतिज्ञा ले चुके थे। अतः नारदमुनि के परामर्श से राजा मरुत्त ने बृहस्पति के अघोरी दिगम्बर अनुज संवर्त का अपने यज्ञ के लिये वरण किया। संवर्त के प्रभाव से राजा मरुत्त को कुबेर के कोष के समान समृद्धि प्राप्त हुई। देवराज इन्द्र ने राजा मरुत्त के यज्ञ में विघ्न डालने के अनेक प्रयास किये। परन्तु संवर्त का तेज इतना तीक्ष्ण था कि उनके आह्वान की अवहेलना करने में असमर्थ हो अन्ततः इन्द्र स्वयं राजा मरुत्त के यज्ञ में उपस्थित हुए और अन्य देवताओं के साथ हविष्य में अपना भाग ग्रहण किया। तब तो इन्द्र के आदेश से देवताओं ने ही उस यज्ञ में अत्यन्त धन-सम्पत्ति का प्रवाह आरम्भ कर दिया और देवता ही आतिथेय हो सब को अन्न परोसने लगे।

इस प्रकार राजा मरुत्त के उस यज्ञ में इतनी अधिक सम्पत्ति एकत्रित हुई कि समस्त आमन्त्रित जनों के मनोवाञ्छित मात्रा में सुवर्ण आदि ले जाने के उपरान्त भी वहाँ अथाह धन बचा रहा। राजा मरुत्त ने उस बचे हुए धन को वहीं कोषस्थान बनवाकर सञ्चित कर दिया और संवर्त की अनुमति से अपनी राजधानी लौटकर समुद्र पर्यन्त पृथिवी पर शासन करने लगे।

महर्षि व्यास इस प्रकार राजा मरुत्त के कोष की कथा सुनाकर युधिष्ठिर को अपने अश्वमेध यज्ञ के सम्पादन के लिये उसी सञ्चित कोष को ले आने की सम्मति देते हैं। यह सुनकर राजा युधिष्ठिर कुछ स्वस्थ होने लगते हैं और अपने मन्त्रियों को बुलाकर अश्वमेध यज्ञ के अनुष्ठान की सम्भावनाओं पर विचार-विमर्श प्रारम्भ करते हैं।

श्रीकृष्ण की चेतावनी

उधर श्रीकृष्ण भीष्म पितामह के अवसान के पश्चात् युधिष्ठिर को पुनः गहन शोक में मग्न होते देख इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि युधिष्ठिर किसी मानसिक व्याधि से पीड़ित हैं। कुछ समय पूर्व द्रौपदी भी इसी निश्चय पर पहुँची थीं। अब श्रीकृष्ण व्याधि के विषय में शास्त्रसम्मत भारतीय बोध का व्याख्यान करते हुए युधिष्ठिर को बताते हैं कि व्याधियाँ दो प्रकार की होती

हैं – मानसिक एवं शारीरिक। परन्तु ये दोनों प्रकार की व्याधियाँ परस्पर एक दूसरे का आश्रय लेकर ही जन्म लेती हैं, इनमें से किसी एक का अकेले उत्पन्न होना सम्भव नहीं। दोनों प्रकार की व्याधियाँ शारीरिक एवं मानसिक गुणों के असन्तुलन में लक्षित होती हैं। और श्रीकृष्ण का मानना है कि युधिष्ठिर निश्चय ही अपना मानसिक सन्तुलन खो बैठे हैं, उनमें दुःख में दुःखी होने और सुख में सुखी होने का सहज भाव ही लुप्त हो गया है। वे तो अपनी ही किन्हीं स्मृतियों में लीन हैं और यह स्थिति मानसिक विभ्रम के अतिरिक्त और क्या हो सकती है? श्रीकृष्ण के शब्दों में – स त्वं न दुःखी दुःखस्य न सुखी सुसुखस्य च। स्मर्तुमिच्छसि कौन्तेय किमन्यद् दुःखविभ्रमात्।[१२]

श्रीकृष्ण युधिष्ठिर की इस मनोस्थिति के विषय में अत्यन्त चिन्तित हैं। वे युधिष्ठिर को बताते हैं कि अब उनके समक्ष वैसा ही कठिन युद्ध उपस्थित है जैसा पहले उन्होंने द्रोण एवं भीष्म जैसे महारथियों के साथ लड़ा है। परन्तु अब प्रस्तुत युद्ध युधिष्ठिर को अपने ही मन में अपने ही विभ्रमों के साथ लड़ना है। इस युद्ध में कोई बन्धु-बान्धव और कोई सेवक उनकी सहायता नहीं कर पायेगा, न ही कोई अस्त्र-शस्त्र इस युद्ध में उनके काम आ पायेंगे। इस युद्ध को जीतने के लिये तो उन्हें स्वयं अपना कर्तव्यपालन करते हुए योग से अपने मन को वश में करना होगा। कुछ पहले द्रौपदी द्वारा दी गयी भयङ्कर अनिष्ट की चेतावनी को प्रायः दोहराते हुए अब श्रीकृष्ण युधिष्ठिर को चेताते हैं कि यदि वे अपने मन के भीतर लड़े जाने वाले इस युद्ध में विजयी न हो पाये तो उनकी जो दशा होगी उसके विषय में कुछ कहना सम्भव नहीं।

श्रीकृष्ण का मानना है कि इस महान् युद्ध में विजयी होने के लिये युधिष्ठिर को अपनी सम्पूर्ण शक्ति और अपनी समस्त कामनाएँ धर्मसम्मत किसी महान् कार्य पर केन्द्रित करनी होंगी। उनकी सम्मति है कि विविध दक्षिणाओं से परिपूर्ण महान् यज्ञों का अनुष्ठान करके ही युधिष्ठिर की सब कामनाएँ फलीभूत होंगी, यहाँ तक कि उनकी मोक्ष सम्बन्धी कामना भी इसी मार्ग से परिपूर्ण हो पायेगी। अतः श्रीकृष्ण युधिष्ठिर को आदेश देते हैं –

> यजस्व वाजिमेधेन विधिवद् दक्षिणावता।
> अन्यैश्च विविधैर्यज्ञैः समृद्धैराप्तदक्षिणैः॥[१३]
>
> विधिवत् दक्षिणाओं से सम्पन्न अश्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान करो और पर्याप्त दक्षिणाओं से परिपूर्ण अन्य विविध प्रकार के भव्य यज्ञों का सम्पादन करो।

[१२] महाभारत *आश्वमेधिक* १२.७, पृ.६१२५।
[१३] महाभारत *आश्वमेधिक* १३.२०, पृ.६१२७।

महान् राजाओं के महान् यज्ञ: महाभारत

युधिष्ठिर का रामराज्य

भीष्म पितामह की वृहद् शिक्षा, स्नेहियों-संबंधियों की सहज सान्त्वना और महर्षि व्यास, स्वयं श्रीकृष्ण और द्रौपदी की स्नेहसिक्त प्रताड़ना-प्रेरणा से अन्ततः युधिष्ठिर का चित्त कुछ शान्त होने लगता है। वे अपने शोक-विषाद से मुक्त हो अपने आप में आश्वस्त होने लगते हैं। इस प्रकार स्वस्थ हो वे श्रीकृष्ण और महर्षि व्यास के आदेशानुसार महान् यज्ञों के अनुष्ठान का उपक्रम करते हुए राजोचित कर्मों में प्रवृत्त होने लगते हैं।

युधिष्ठिर के राजकर्म में अपना चित्त अवस्थित करते ही चहुँ ओर समृद्धि का प्रसार होने लगता है और शीघ्र ही उनका राज्य भारतीय परम्परा के आदर्श एवं सभी भारतवासियों के मन में सर्वदा स्थित रामराज्य-सा दिखने लगता है। रामराज्य के अनुरूप ही उनके राज्य में कहीं क्षुधा-पिपासा का नाम तक नहीं रहता, सब स्थानों पर सुसमय सम्यक् वृष्टि होती है, पृथिवी धन-धान्य से परिपूर्ण हो कामधेनु के समान सब की सब कामनाओं की पूर्ति करने लगती है, कहीं कोई आधि-व्याधि नहीं रहती, गायें भी हृष्ट-पुष्ट हो दूध-घी की नदियाँ बहाने लगती हैं और बैल अपने बल-सौष्ठव से किसानों का मन मोह लेते हैं, सब लोग धर्मनिष्ठ हो परस्पर स्नेह एवं न्यायपूर्वक व्यवहार करते हैं, वन के जीव-जन्तु भी एक-दूसरे के प्रति कोई अनुचित कर्म नहीं करते और इस सहज समृद्धि के मध्य अनेक राजवंश पल्लवित हो पृथिवी के समस्त स्वराज्यों का संरक्षण करने लगते हैं।

महाभारत में राजा युधिष्ठिर के रामराज्य का अत्यन्त विशद वर्णन हुआ है। जनमेजय के समक्ष धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिर के राज्यकाल का चित्रण करते हुए महाभारत के आख्याता मुनि वैशम्पायन कहते हैं[१४]–

यथा मनुर्महाराजो रामो दाशरथिर्यथा।
तथा भरतसिंहोऽपि पालयामास मेदिनीम्।
नाधर्म्यमभवत् तत्र सर्वो धर्मरुचिर्जनः।
बभूव नरशार्दूल यथा कृतयुगे तथा।
कलिमासन्नमाविष्टं निवास्य नृपनन्दनः।
भ्रातृभिः सहितो धीमान् बभौ धर्मबलोद्धतः॥

[१४] महाभारत *आश्वमेधिक* १४, पृ.६१२९-३१।

युधिष्ठिर का रामराज्य

भरतवंश के सिंह राजा युधिष्ठिर सम्पूर्ण पृथिवी का वैसे ही पालन एवं संरक्षण करने लगे जैसा पूर्वकाल में महाराजा मनु और दशरथ पुत्र राजा श्रीराम ने किया था। उनके राज्य में कहीं कोई अधर्म नहीं होता था। सभी लोग धर्म में ही प्रवृत्त थे। नरशार्दूल जनमेजय! ऐसा प्रतीत होता था मानो कृतयुग का ही प्रादुर्भाव हो गया हो। कलि को समीप आता देख बुद्धिमान् नृपनन्दन युधिष्ठिर अपने भाइयों समेत धर्मबल से उद्धत-से हो गये थे।

ववर्ष भगवान् देवः काले देशे यथेप्सितम्।
निरामयं जगदभूत् क्षुत्पिपासे न किञ्चन।
आधिर्नास्ति मनुष्याणां व्यसने नाभवन्मतिः॥

भगवान् पर्जन्यदेव राजा युधिष्ठिर के राज्य में उपयुक्त स्थान एवं उपयुक्त समय पर यथेष्ट वर्षा करते थे। सम्पूर्ण जगत् रोग मुक्त हो गया था। कहीं कोई किञ्चित् भी भूखा-प्यासा न रहता था। सब मनुष्य शारीरिक ही नहीं, मानसिक कष्ट से भी मुक्त हो गये थे और कभी किसी का मन किसी व्यसन में नहीं पड़ता था।

ब्राह्मणप्रमुखा वर्णास्ते स्वधर्मोत्तराः शिवाः।
धर्मः सत्यप्रधानश्च सत्यं सद्विषयान्वितम्।
धर्मासनस्थः सद्भिः स स्त्रीबालातुरवृद्धकान्।
वर्णाश्रमान् पूर्वकृतान् सकलान् रक्षणोद्यतः॥

ब्राह्मणादि सभी वर्ण अपने-अपने स्वधर्म की श्रेष्ठता के प्रति निश्चित हो अपने-अपने स्वधर्म में निष्ठ थे। धर्म सत्य से नियन्त्रित था और सत्य उपयुक्त विषयों में स्थित था। धर्म में सम्यक् स्थित राजा युधिष्ठिर अपने सम्पूर्ण शिष्ट समाज को साथ लेकर स्त्रियों, बालकों, वृद्धों एवं रोगियों की रक्षा में सदा उद्यत रहते थे। इसी प्रकार वे पूर्वकाल से प्रतिष्ठित वर्णाश्रम धर्म की रक्षा का भी सदा प्रयास करते थे।

अवृत्तिवृत्तिदानाद्यैर्यज्ञार्थैर्दीपितैरपि।
आमुष्मिकं भयं नास्ति ऐहिकं कृतमेव तु।
स्वर्गलोकोपमो लोकस्तदा तस्मिन् प्रशासति।
बभूव सुखमेकाग्रं तद्विशिष्टतरं परम्॥

जीविका से रहित लोगों को जीविका दी जाती थी। यज्ञों के सम्पादन के लिये पर्याप्त धन की व्यवस्था थी। सब ओर समृद्धि का ही प्रसार था। समुचित यज्ञों के सम्पादन के चलते किसी के लिये परलोक का भय नहीं रह गया था और वृत्ति एवं समृद्धि से युक्त प्रजा के लिये इहलोक तो सब प्रकार से सुखद था ही। ऐसा प्रतीत होता था मानो कृतयुग ही पुनः आ गया हो। राजा युधिष्ठिर के शासन में यह लोक स्वर्ग के समान ही सुखद हो गया था। इतना ही नहीं, भूलोक का एकाग्र सुख स्वर्गलोक के सुख से कुछ विशिष्टतर ही था।

नार्यः पतिव्रताः सर्वा रूपवत्यः स्वलंकृताः।
यथोक्तवृत्ताः स्वगुणैर्बभूवुः प्रीतिहेतवः।
पुमांसः पुण्यशीलाढ्याः स्वं स्वं धर्ममनुव्रताः।
सुखिनः सूक्ष्ममप्येनो न कुर्वन्ति कदाचन॥

जब राजा युधिष्ठिर पृथिवी पर शासन करते थे तब पृथिवी की सब नारियाँ रूपवती होती थीं, सब सम्यक् वस्त्र-आभूषणों से अलंकृत हुआ करती थीं और सब पतिव्रता हुआ करती थीं। वे सब शास्त्रोक्त सदाचार से सम्पन्न होती थीं और इस प्रकार अपने सहज गुणों से वे सर्वत्र स्नेह एवं प्रीति के विस्तार का स्रोत बन गयी थीं।

पुरुष पुण्य एवं शील के धनी हुआ करते थे। वे सब अपने-अपने धर्म में निष्ठ थे। अपने स्वधर्म में प्रसन्न एवं सुखी रहते हुए उनसे किञ्चित् भी पापकर्म नहीं हो पाता था।

सर्वे नराश्च नार्यश्च सततं प्रियवादिनः।
अजिह्ममनसः शुक्लाः बभूवुः श्रमवर्जिताः॥

सब स्त्री-पुरुष सदा प्रिय वचन ही बोलते थे। उनके मन में कुटिलता का किञ्चित् भी समावेश नहीं हो पाता था। उनमें सर्वदा निष्कपट शुद्धता का भाव ही बना रहता था। अतः वे सब प्रकार के तनाव एवं श्रम से मुक्त थे।

भूषिताः कुण्डलैर्हारैः कटकैः कटिसूत्रकैः।
सुवाससः सुगन्धाढ्याः प्रायशः पृथिवीतले॥

युधिष्ठिर का रामराज्य

जब युधिष्ठिर पृथिवी पर शासन करते थे तब भूतल के सभी स्त्री-पुरुष कुण्डल, हार, कङ्कन और करधनी से विभूषित होते थे। वे सभी सुन्दर वस्त्र पहनते थे और मनोऽनुकूल सुगन्धों को धारण किया करते थे।

सर्वे ब्रह्मविदो विप्राः सर्वत्र परिनिष्ठिताः।
वलीपलितहीनास्तु सुखिनो दीर्घजीविनः॥

समस्त विप्र ब्रह्मविद्या के ज्ञाता थे और वे समस्त शास्त्रों में निष्णात थे। वे सभी वली-पलित रहित हो, बाल पकने और मुख पर झुर्रियाँ पड़ने जैसी जराजनित विकृतियों से बचे रहकर, सुखमय दीर्घ जीवन जीते थे।

इच्छा न जायतेऽन्यत्र वर्णेषु च न संकरः।
मनुष्याणां महाराज मर्यादासु व्यवस्थितः॥

महाराज जनमेजय! राजा युधिष्ठिर के राज्य में किसी को किसी परायी वस्तु की कामना ही नहीं होती थी। कभी वर्णों में सङ्करता नहीं आती थी। सभी मनुष्य मर्यादा में स्थित रहते थे।

तस्मिञ्छासति राजेन्द्रे मृगव्यालसरीसृपाः।
अन्योन्यमपि चान्येषु न बाधन्ते कदाचन॥

जब राजाओं में इन्द्र के समान राजा युधिष्ठिर पृथिवी पर राज्य करते थे तब मृगादि पशु, व्यालादि हिंसक जीव और सर्पादि रेंगने वाले जन्तु भी अपनी-अपनी मर्यादा में स्थित रहते थे। वे न तो परस्पर एक-दूसरे को कोई बाधा पहुँचाते थे, न किसी अन्य को ही किसी प्रकार का कष्ट देते थे।

गावः सुक्षीरभूयिष्ठाः सुवालधिमुखोदराः।
अपीडिताः कर्षकाद्यैर्हृतव्याधितवत्सकाः॥

गायें सभी हृष्ट-पुष्ट थीं, उनके मुख, उदर और पूँछ सुन्दर सुगठित हुआ करती थीं। वे पुष्टिकर दूध से परिपूर्ण रहती थीं। कृषक कभी उन्हें किसी प्रकार की पीड़ा नहीं पहुँचाते थे, और वे सदा सुन्दर स्वस्थ बछड़ों से संयुक्त रहती थीं।

अवन्ध्यकाला मनुजाः पुरुषार्थेषु च क्रमात् ।
विषयेष्वनिषिद्धेषु वेदशास्त्रेषु चोद्यताः ॥

लोग अपना समय व्यर्थ नहीं गँवाते थे । वे क्रमपूर्वक धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष सम्बन्धी चारों पुरुषार्थों के सम्पादन में प्रवृत्त रहते थे । वे सर्वदा वेद-शास्त्रों के अध्ययन में उद्यत रहते थे और शास्त्र में जिनका निषेध नहीं हुआ, ऐसे धर्मसम्मत विषयों के सेवन में अनुरक्त रहते थे ।

सुवृत्ता वृषभाः पुष्टाः सुस्वभावाः सुखोदयाः ॥

राजा युधिष्ठिर के शासनकाल में बैल हृष्ट-पुष्ट एवं स्वस्थ हुआ करते थे। उनकी चाल-ढाल उत्कृष्ट हुआ करती थी और उनका स्वभाव मनमोहक था। इस प्रकार वे कृषकों के लिये सुख के निमित्त बने हुए थे ।

अतीव मधुरः शब्दः स्पर्शश्चातिसुखं रसम् ।
रूपं दृष्टिक्षमं रम्यं मनोज्ञं गन्धवद् बभौ ॥

राजा युधिष्ठिर के शासनकाल में इन्द्रियों के पाँचों विषय अत्यन्त सुखकर हो गये थे। शब्द एवं स्पर्श अतीव मधुर हुआ करते थे, सब प्रकार के रस सुखद हुआ करते थे, रूप नेत्रों को शान्ति पहुँचाता था एवं मन को रम्य प्रतीत होता था, और गन्ध चित्त को प्रसन्न करने वाली हुआ करती थी ।

धर्मार्थकामसंयुक्तं मोक्षाभ्युदयसाधनम् ।
प्रह्लादजननं पुण्यं सम्बभूवाथ मानसम् ॥

मन पुण्य एवं आनन्द में स्थित हो सम्यक् रीति से धर्म, अर्थ एवं काम में प्रवृत्त होता था। इस प्रकार राजा युधिष्ठिर के राज्य में मन सब के लिये इस लोक में अभ्युदय और इस लोक के उपरान्त मोक्षप्राप्ति का हेतु बन गया था ।

स्थावरा बहुपुष्पाढ्याः फलच्छायावहास्तथा ।
सुस्पर्शा विषहीनाश्च सुपत्रत्वक्प्ररोहिणः ॥

वृक्ष फूलों से ढके हुए थे और बहुत से फल एवं घनी छाया प्रदान करते थे । उनका स्पर्श सुखद था । उनमें किसी प्रकार का कोई विष नहीं पाया जाता था । सुन्दर पत्तों एवं छाल से युक्त उन वृक्षों में से सुन्दर-स्वस्थ अङ्कुर फूटा करते थे ।

मनोऽनुकूलाः सर्वेषां चेष्टा भूस्तापवर्जिता।
यथा बभूव राजर्षिस्तद्वृत्तमभवद् भुवि ।।

समस्त जनों की सभी चेष्टायें सर्वदा मनोऽनुकूल ही होती थीं। सम्पूर्ण पृथिवी सब प्रकार के ताप से मुक्त थी। वस्तुतः राजाओं में ऋषिवत् राजा युधिष्ठिर की धार्मिक प्रवृत्ति के अनुरूप ही समस्त भूलोक धर्म में प्रवृत्त हो गया था।

सर्वलक्षणसम्पन्नाः पाण्डवा धर्मचारिणः।
ज्येष्ठानुवर्तिनः सर्वे बभूवुः प्रियदर्शनाः ।।

अपने ज्येष्ठ भ्राता युधिष्ठिर की आज्ञा का अनुसरण करते हुए सब पाण्डव समस्त शुभ लक्षणों से सम्पन्न और सर्वदा धर्म में निष्ठ हो समस्त प्रजा के लिये प्रसन्नता के हेतु बन गये थे। उनके दर्शन सबको प्रिय थे।

सिंहोरस्का जितक्रोधास्तेजोबलसमन्विताः।
आजानुबाहवः सर्वे दानशीला जितेन्द्रियाः ।।

सब पाण्डव भाइयों की छाती सिंह के समान विशाल थी, उनकी भुजायें घुटनों को छूती थीं और वे सब अमित तेज एवं बल से सम्पन्न थे। वे सब दानशील थे। उन्होंने क्रोध पर विजय पा रखी थी और उनकी सब इन्द्रियाँ पूर्णतया उनके वश में थीं।

तेषु शासत्सु धरणीमृतवः स्वगुणैर्बभुः।
सुखोदयाय वर्तन्ते ग्रहास्तारागणैः सह ।।

जब पाण्डव पृथिवी पर शासन करते थे तो सब ऋतुएँ अपने सहज गुणों के अनुरूप हुआ करती थीं और सभी ग्रह एवं नक्षत्र शुभ स्थानों में विचरते हुए सब के लिये सुखकारक बने रहते थे।

मही सस्यप्रबहुला सर्वरत्नगुणोदया।
कामधुग्धेनुवद् भोगान् फलति स्म सहस्रधा ।।

उस समय पृथिवी सस्यप्रबहुला हो गयी थी। उत्तम एवं प्रचुर धान्य उपजते थे। बहुमूल्य रत्न एवं सब प्रकार के शुभ पदार्थ प्रचुर मात्रा में पृथिवी से प्राप्त हुआ करते थे। कामधेनु के समान ही पृथिवी सहस्रों भोगों से फलित हो रही थी।

मन्वादिभिः कृताः पूर्वे मर्यादा मानवेषु याः ।
अनतिक्रम्य ताः सर्वाः कुलेषु समयानि च ।
अन्वशासन्त राजानो धर्मपुत्रप्रियंकराः ।।

धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिर को प्रसन्न करने की ओर प्रवृत्त भूमण्डल के सभी राजा विभिन्न कुलों की रीति-नीति एवं विधि-विधान और मनु आदि के समय से मनुष्यों में स्थापित मर्यादाओं का किञ्चित् भी उल्लङ्घन किये बिना अपने-अपने राज्य का शासन चलाते थे ।

महाकुलानि धर्मिष्ठा वर्धयन्तो विशेषतः ।
मनुप्रणीतया कृत्या तेऽन्वशासन् वसुन्धराम् ।।

धर्म में निष्ठ हो पृथिवी के राजा विभिन्न महान् कुलों की संवृद्धि के प्रति विशेष प्रयत्नशील रहते थे और वे सब मनुप्रणीत नीति के अनुसार ही इस वसुधा का शासन चलाते थे ।

राजवृत्तिर्हि सा शश्वद् धर्मिष्ठाभून्महीतले ।
प्रायो लोकमतिस्तात राजवृत्तानुगामिनी ।।

तात जनमेजय! जब युधिष्ठिर पृथिवी पर शासन करते थे तब भूतल के समस्त राजाओं का व्यवहार सदा धर्म के अनुरूप ही होता था और जैसा कि प्रायः होता है, सब लोगों की बुद्धि राजाओं के व्यवहार का अनुसरण कर धर्म में ही स्थिर हो गयी थी ।

एवं भारतवर्षं स्वं राजा स्वर्गे सुरेन्द्रवत् ।
शशास विष्णुना सार्धं गुप्तो गाण्डीवधन्वना ।।

श्रीकृष्ण के रूप में स्वयं श्रीविष्णु की मैत्री के धनी एवं गाण्डीव धनुर्धारी अर्जुन के पराक्रम से संरक्षित राजा युधिष्ठिर ने इस प्रकार भारतवर्ष के शासन का निर्वाह किया। भारतवर्ष में राजा युधिष्ठिर का शासन निश्चय ही स्वर्ग में देवराज इन्द्र के शासन के समान ही था ।

युधिष्ठिर का अश्वमेध यज्ञ

यज्ञ का उपक्रम

राजा युधिष्ठिर जब तक हस्तिनापुर के सिंहासन पर भली भाँति प्रतिष्ठित हो अपने राज्य को रामराज्य की छवि में ढाल नहीं लेते तब तक श्रीकृष्ण वहीं रुके रहते हैं। उन दिनों वे अपने प्रिय मित्र अर्जुन के साथ चित्र-विचित्र वनों, सुरम्य पर्वत शिखरों, पवित्र तीर्थ स्थानों, सुन्दर पल्वलों और नदीतटों पर विचरण करते हुए हर्षपूर्वक समय व्यतीत करते हैं। इसी प्रकार विचरण करते हुए वे इन्द्रप्रस्थ की मयनिर्मित अत्यन्त रमणीय सभा में पहुँच जाते हैं और कुछ दिन वे दोनों मित्र वहीं निवास करते हैं।

इन्द्रप्रस्थ के सभाभवन में निवास करते हुए अर्जुन एक दिन श्रीकृष्ण से आग्रह करते हैं कि महाभारत युद्ध के समय श्रीमद्भगवद्गीता के रूप में जिस ज्ञान के दर्शन उन्होंने करवाये थे, उसी ज्ञान का अब वे पुनः उपदेश करें। अपने परम प्रिय मित्र का आग्रह मान श्रीकृष्ण अनुगीता का उपदेश करते हैं। श्रीकृष्ण के मुख से इस समय प्रतिपादित अनुगीता में सृष्टि के परम सत्य एवं सृष्टि में मानव के स्थान और भूमिका के विषय में उसी सनातन ज्ञान का वर्णन हुआ है जिस सनातन ज्ञान को श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं योगयुक्त होकर अद्वितीय सम्पूर्णता और विशदता से प्रतिष्ठापित करते हैं। अनुगीता का उपदेश करते हुए श्रीकृष्ण पुनः पुनः सृष्टि में अन्न की प्रमुखता का व्याख्यान करने लगते हैं। वे अर्जुन को विस्तार से समझाते हैं कि कैसे जीवन अन्न पर निर्भर है और अन्न ही जीवन-मरण एवं स्वास्थ्य एवं व्याधि का मूल कारण है। ऐसा प्रतीत होता है कि महाभारत युद्ध के असहज असामान्य घटनाचक्र के उपसंहार पर श्रीकृष्ण सब का ध्यान सहज सामान्य जीवन की ओर लौटा लाना चाहते हैं, और अन्न तो निश्चय ही सहज सामान्य जीवन का मुख्य तत्व है।

अर्जुन को अनुगीता का उपदेश देने और युधिष्ठिर के राज्यनिर्वाह के प्रति पूर्णतया आश्वस्त होने के उपरान्त ही श्रीकृष्ण द्वारका लौटते हैं। जाने से पूर्व वे राजा युधिष्ठिर की अनुमति लेने हस्तिनापुर पहुँचते हैं और तब युधिष्ठिर उनसे आग्रह करते हैं कि उन्हें अपनी प्रजा, अपने माता-पिता और वृष्णिवंशी बन्धु-बान्धवों से मिलकर शीघ्र ही उनके अश्वमेध यज्ञ में भाग लेने के लिये हस्तिनापुर लौट आना चाहिये।

श्रीकृष्ण के प्रस्थान के पश्चात् महर्षि कृष्णद्वैपायन व्यास हस्तिनापुर आकर अभिमन्यु के विरह में अत्यन्त सन्तप्त उत्तरा को सान्त्वना देते हुए उसे महातेजस्वी पुत्र की प्राप्ति का आशीर्वाद देते हैं। तभी वे युधिष्ठिर को अश्वमेध यज्ञ के अनुष्ठान के लिये सभी उपक्रम करने की आज्ञा

भी देते हैं। महर्षि व्यास का आदेश पाकर युधिष्ठिर अपने बन्धुओं समेत राजा मरुत्त का गुप्त कोष लाने के लिये हिमालय की यात्रा पर निकल पड़ते हैं।

पाण्डवों के अपनी यात्रा सम्पन्न कर लौटने से पूर्व ही श्रीकृष्ण द्वारका से हस्तिनापुर आ पधारते हैं। वहाँ पहुँच वे उत्तरा के मृत बालक और कुरुवंश के एकमात्र उत्तराधिकारी को जीवनदान देते हैं, और क्योंकि वह कुरुवंश के परिक्षीण होने पर उत्पन्न होता है इसलिये उसे 'परिक्षित्' नाम देते हैं। इस बीच पाण्डव भी राजा मरुत्त के अथाह कोष को प्राप्त कर हस्तिनापुर लौट आते हैं, और तब अश्वमेध यज्ञ का आयोजन समुचित तत्परता के साथ प्रारम्भ होता है।

युधिष्ठिर स्वयं महर्षि व्यास का यज्ञ के प्रधान ऋत्विज के रूप में वरण करते हैं। महर्षि व्यास युधिष्ठिर का आग्रह स्वीकार कर महर्षि पैल और याज्ञवल्क्य के सहयोग से युधिष्ठिर का यज्ञ सम्पन्न करवाने का उत्तरदायित्व लेते हैं। महर्षि व्यास की सम्मति से युधिष्ठिर अर्जुन को यज्ञ के अश्व की रक्षा के कार्य में, भीमसेन एवं नकुल को यज्ञ की अवधि में राजधानी के संरक्षण में और सहदेव को राजपरिवार के संरक्षण एवं पालन में नियुक्त करते हैं। इस प्रकार सब को उपयुक्त कार्यभार सौंपने के साथ ही सब प्रकार की आवश्यक सामग्री जुटाने और यज्ञ सम्बन्धी अन्य सब व्यवस्थायें करने का कार्य भी चलने लगता है।

चाक्रवर्त्य की पुनःस्थापना

सब प्रबन्ध सम्पन्न होने के उपरान्त चैत्र की पूर्णिमा के दिन महर्षि व्यास अन्य महान् ऋत्विजों को साथ लेकर राजा युधिष्ठिर को यज्ञ की दीक्षा देते हैं। महर्षि व्यास स्वयं ही तब यज्ञ के अश्व को भूमण्डल पर भ्रमण के लिये विधिपूर्वक मुक्त करते हैं। युधिष्ठिर के आदेश से अर्जुन अपने अद्भुत गाण्डीव धनुष पर टङ्कार करते हुए प्रसन्नतापूर्वक उस अश्व का अनुसरण करते हैं।

अर्जुन को इस कार्य पर नियुक्त करते हुए युधिष्ठिर उन्हें साग्रह समझाते हैं कि इस यात्रा के समय अपने सामने पड़ने वाले राजाओं के साथ युद्ध से बचने का उन्हें भरसक यत्न करना चाहिये और जहाँ तक सम्भव हो प्रीति एवं विनयपूर्वक ही पृथिवी के सब राजाओं को यज्ञ में भाग लेने के लिये हस्तिनापुर आने का आमन्त्रण दे आना चाहिये। इस विषय में सतर्क होते हुए भी अर्जुन को इस यात्रा में अनेक युद्ध लड़ने पड़ते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि महाभारत युद्ध में मारे गये शूरवीर क्षत्रियों के उत्तराधिकारी सहजता से पाण्डवों की प्रधानता स्वीकार करने की मनोस्थिति में नहीं हैं। जिन किरात, यवन, शक, हूण आदि म्लेच्छ जातियों को पूर्वकाल में युधिष्ठिर ने अपने चाक्रवर्त्य के अधीन किया था, वे भी अब महाभारत युद्ध के महासंहार के पश्चात् अपनी

किसी स्वच्छन्द दिशा में जाने के लिये अधीर हो रही हैं। अतः सम्पूर्ण भूमण्डल की अपनी इस यात्रा में अर्जुन को इतनी लड़ाइयाँ लड़नी पड़ती हैं कि महाभारत के रचयिता महर्षि व्यास उनकी गणना करने में भी अपने को असमर्थ पाते हैं। महाकाव्य में महर्षि व्यास केवल उन्हीं युद्धों का वर्णन करते हैं जो दोनों पक्षों के योद्धाओं के लिये विशेष कष्टसाध्य बन पाये थे।

महर्षि व्यास जिन गिने-चुने युद्धों का वर्णन करते हैं, उनसे ऐसा प्रतीत होता है कि मानो महाभारत युद्ध में मारे गये प्रत्येक महान् राजा के पुत्रों एवं वंशजों के साथ अर्जुन को अब पुनः भयङ्कर युद्ध में जूझना पड़ा हो। कुरुक्षेत्र के युद्ध में जो त्रिगर्त वीर मारे गये थे उनके महारथी वंशजों, सूर्यवर्मन्, केतुवर्मन् एवं धृतवर्मन् के साथ अर्जुन को पृथक्-पृथक् युद्ध करना पड़ता है। प्राग्ज्योतिषपुर में महाभारत युद्ध में खेत रहे महाबली राजा भगदत्त के पुत्र वज्रदत्त अब अर्जुन के साथ भीषण युद्ध लड़ते हैं। सिन्धुदेश में महारथी जयद्रथ के वंशज सिन्धुवीर अत्यन्त अमर्ष में भरकर अर्जुन से लोहा लेते हैं। मगधदेश में जरासंध के पौत्र मेघसन्धि अर्जुन का सामना करने निकलते है। इसी प्रकार गान्धारराज शकुनि के पुत्र और निषादराज एकलव्य के पुत्र के साथ भी अर्जुन को डटकर लड़ाई लड़नी पड़ती है।

इन सब युद्धों में अर्जुन को अपने सम्पूर्ण बल, शौर्य एवं पराक्रम का आश्रय लेना पड़ता है। महाभारत युद्ध में मारे गये वीर राजाओं के वंशज जीवन-मरण का मोह छोड़कर ही जैसे अर्जुन का सामना करने निकले हों। इस यात्रा में जो युद्ध अर्जुन को लड़ने पड़ते हैं उनके समक्ष युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ की दिग्विजय यात्रा के समय लड़े गये युद्ध तो मैत्रीपूर्ण द्वन्द्व-से ही दिखते हैं। युधिष्ठिर के आदेश से बन्धे अर्जुन अत्यन्त कठिनाई से ही यह सुनिश्चित कर पाते हैं कि महाभारत युद्ध में मारे गये महाराजाओं का कोई पुत्र अथवा वंशज अब इन भीषण युद्धों में मारा न जाये। अनेक अवसरों पर तो प्रतिद्वन्द्वी राजकुल की स्त्रियों के स्वयं युद्धभूमि में पहुँचकर अर्जुन और अपने वंश के पुरुषों के बीच मध्यस्थता करने से ही युद्ध किसी महासंहार के हुए बिना रुक पाता है। अपने राजकुल के समूल नाश के भय से चिन्तित अनेक महान् राजकुलों की स्त्रियाँ इस प्रकार अपने पुरुषों से पाण्डवों का चाक्रवर्त्य स्वीकार करवाती हैं।

अर्जुन की इस कदाचित् कठिनतम यात्रा के समय लड़े गये असंख्य भीषण युद्धों में से एक में तो वे स्वयं प्रायः मारे ही जाते हैं। मणिपुर की राजकुमारी चित्राङ्गदा से उत्पन्न अपने ही पुत्र मणिपुर नरेश बभ्रुवाहन को वे क्षत्रियोचित युद्ध के लिये प्रेरित करते हैं, और उस प्रेरणा के परिणामस्वरुप होने वाले भीषण युद्ध में बभ्रुवाहन के तीक्ष्ण बाण से मर्मान्तक घायल हो गहन मूर्च्छा में पड़कर भूमि पर गिर पड़ते हैं। तब बभ्रुवाहन की विमाता नागकन्या उलूपी के दिव्य उपचार से ही वे पुनर्जीवित हो पाते हैं।

महान् राजाओं के महान् यज्ञ: महाभारत

इतने सारे भीषण युद्धों से निकलते हुए जब वे अपनी यात्रा सम्पन्न कर हस्तिनापुर लौटते हैं तब तक उनका शरीर अत्यन्त क्षीण हो चुका होता है। हस्तिनापुर में प्रवेश करने से पूर्व ही वे श्रीकृष्ण के पास एक विशेष सन्देश भेजकर उनसे निवेदन करते हैं कि वे युधिष्ठिर को यज्ञ में आने वाले सभी राजाओं के समुचित स्वागत-सत्कार की अनिवार्यता के प्रति सचेत करें। अर्जुन का आग्रह है कि सब राजाओं के साथ ऐसा व्यवहार होना चाहिये मानो वे सब-के-सब महानों में महान् ही हों, किसी की किसी प्रकार से कोई अवमानना नहीं होनी चाहिये और सब का विधिपूर्वक सतत मान-सम्मान होना चाहिये। ऐसा प्रतीत होता है मानो अर्जुन को आभास हो रहा हो कि राजाओं के परस्पर द्वेष से जनित एक और नरसंहार अब पृथिवी सहन नहीं कर पायेगी। अथवा, महाभारत युद्ध के प्रायः तुरन्त पश्चात् असंख्य भीषण युद्ध लड़ने के उपरान्त कोई और महायुद्ध लड़ने का साहस कदाचित् वे अब अपने में नहीं पाते।

अर्जुन को अश्वमेध के अश्व का अनुसरण करते हुए जिस प्रकार के गम्भीर एवं भीषण युद्धों का सामना करना पड़ता है उन्हें देखकर यह स्पष्ट होने लगता है कि महर्षि व्यास, श्रीकृष्ण और द्रौपदी का युधिष्ठिर के अश्वमेध यज्ञ के प्रति इतना आग्रह क्यों है और क्यों वे युधिष्ठिर के असहज शोक एवं विषाद के प्रति धैर्य खोते जाते हैं। श्रीकृष्ण एवं द्रौपदी इतनी तीक्ष्णता के साथ जिन भावी विपत्तियों के विषय में युधिष्ठिर को सचेत करते हैं उनकी गम्भीरता का कुछ आभास भी अर्जुन की इस यात्रा से होने लगता है।

ऐसा प्रतीत होता है कि महाभारत युद्ध के समय हुए असंख्य राजाओं एवं महान् योद्धाओं के संहार और पृथिवी के व्यापक विनाश से भारतवर्ष का राजनीतिक सन्तुलन अस्थिर हो गया है। युद्ध में मारे गये राजाओं एवं अन्य योद्धाओं के उत्तराधिकारी सहजता से पाण्डवों की प्रधानता स्वीकार करने का कोई कारण नहीं देखते। वस्तुतः पाण्डव भी तो महाभारत युद्ध में से अत्यन्त क्षीण होकर ही निकले हैं। ऐसे में भारतवर्ष की राजनीति खण्डित-सी होती दिखती है। विभिन्न राजवंशों, क्षत्रियकुलों एवं अन्य अग्रजनों से संरक्षित विभिन्न स्वराज्य अपनी भिन्न-भिन्न दिशाओं में अभिमुख होते दिखते हैं। इस विकट परिस्थिति में यह नितान्त आवश्यक है कि युधिष्ठिर अश्वमेध यज्ञ के माध्यम से समस्त राजाओं, क्षत्रियों एवं अन्य अग्रजनों को अपनी ओर अभिमुख कर पुनः भारतवर्ष-भर व्यापी राजनीतिक सामञ्जस्य की स्थापना करें। महर्षि कृष्णद्वैपायन व्यास, श्रीकृष्ण और कदाचित् द्रौपदी भी इस राजनीतिक अनिवार्यता को देख-समझ रहे हैं और सम्भवतः इसीलिये वे युधिष्ठिर को आत्मवञ्चनात्मक त्याग एवं विरक्ति के मार्ग से लौटा लाने के प्रयास में प्रायः अधीर होते चले जाते हैं। अन्ततः जब युधिष्ठिर अश्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान करने का निर्णय लेते हैं तो अर्जुन जैसे महाबली योद्धा अपने सारे पराक्रम एवं शौर्य

और अपनी सम्पूर्ण शक्ति का आश्रय लेकर ही युधिष्ठिर की प्रधानता में भारतवर्ष-भर व्यापी एक नये राजनीतिक सामञ्जस्य की स्थापना कर पाते हैं।

यज्ञारम्भ एवं अन्नदान

अर्जुन जब तक यज्ञ के अश्व का अनुसरण करते हुए भूमि पर विचरण करते हैं तब हस्तिनापुर में युधिष्ठिर के आदेश से भीमसेन भव्य यज्ञभूमि का निर्माण करवाने का उद्योग करते हैं। इसी मध्य अर्जुन से यज्ञ में पहुँचने का निमन्त्रण पाकर विभिन्न राजा एक-एक कर हस्तिनापुर आने लगते हैं। उन सब के लिये यज्ञभूमि में अलौकिक शय्याओं एवं अन्नपान का प्रबन्ध किया जाता है और राजाओं के वाहनों के लिये भी धान और ईख से परिपूर्ण पृथक् घरों का प्रबन्ध होता है। धीरे-धीरे अनेक वेदवेत्ता मुनिगण और असंख्य शिष्यों के समुदायों से घिरे हुए अनेक श्रेष्ठ ब्राह्मण भी यज्ञ में पधारने लगते हैं। राजा युधिष्ठिर स्वयं उन सब का स्वागत-सत्कार कर उनके रहने-सोने एवं खाने-पीने का समुचित प्रबन्ध करते हैं। उसके पश्चात् तो यज्ञभूमि जम्बूद्वीप के समस्त जनपदों से आये सहस्रों जातियों के लोगों से भर जाती है। इस प्रकार अर्जुन के अपनी यात्रा से लौट आने से पहले ही यज्ञ के सब उपक्रम सम्पन्न हो जाते हैं और उनके हस्तिनापुर पहुँचते ही यज्ञ प्रारम्भ हो जाता है।

यज्ञभूमि का निर्माण होने के तुरन्त पश्चात् और अर्जुन के प्रत्यावर्तन से कहीं पूर्व वहाँ एक भव्य एवं निर्बाध अन्नदान प्रारम्भ होता है। अन्नदान के प्रारम्भ होते ही इस यज्ञ के अनुष्ठान से पूर्व के समस्त दुःसह प्रयास प्रायः भुला दिये जाते हैं, यज्ञ का राजनीतिक प्रसङ्ग भी गौण हो जाता है और भारतीय श्रौत-स्मार्त परम्परा के इस कदाचित् महत्तम यज्ञ के केन्द्र पर एक भव्य अन्नदान का अनन्त प्रवाह ही दिखायी देने लगता है। इस अद्वितीय यज्ञ के दृश्य का वर्णन करते हुए महर्षि व्यास पुनः पुनः वहाँ चल रहे निर्बाध अन्नदान का ही वृत्तान्त कहने लगते हैं। महर्षि व्यास के शब्दों में महाराजा युधिष्ठिर के उस भव्य यज्ञ की यज्ञभूमि का दृश्य कुछ इस प्रकार दिखायी देता था –

एवं प्रमुदितः सर्वं पशुगोधनधान्यतः।
यज्ञवाटं नृपा दृष्ट्वा परं विस्मयमागताः।
ब्राह्मणानां विशां चैव बहुमृष्टान्नमृद्धिमत्।
पूर्णे शतसहस्रे तु विप्राणां तत्र भुञ्जताम्।
दुन्दुभिर्मेघनिर्घोषो मुहुर्मुहुरताडयत।

विननादासकृच्चापि दिवसे दिवसे गते।
एवं स ववृते यज्ञो धर्मराजस्य धीमतः।
अन्नस्य सुबहून् राजन्नुत्सर्गान् पर्वतोपमान्।
दधिकुल्याश्च दृदृशुः सर्पिषश्च ह्रदान् जनाः।
जम्बूद्वीपो हि सकलो नानाजनपदायुतः।
राजन्नदृश्यतैकस्थो राज्ञस्तस्य महामखे ॥[१५]

पशु, गो, धन एवं धान्य से परिपूर्ण और सब प्रकार से प्रमुदित उस यज्ञभूमि को देखकर वहाँ आये सभी नरेश आश्चर्यचकित रह गये।

ब्राह्मणों एवं वैश्यों के लिये वहाँ अत्यन्त स्वादिष्ट अन्न प्रस्तुत था। शतसहस्र विप्रों के भोजन कर लेने पर यज्ञभूमि में दुन्दुभिनाद किया जाता था और इस प्रकार दुन्दुभि के पुनः पुनः बजाये जाने से वहाँ मेघगर्जना के समान शब्द हो रहा था। जैसे-जैसे दिन बीतते गये वैसे-वैसे दुन्दुभि का बजना इतना बढ़ता गया कि ऐसा प्रतीत होने लगा मानो उस यज्ञभूमि में निरन्तर दुन्दुभिनाद हो रहा हो।

राजा जनमेजय! धीमान् राजा युधिष्ठिर का वह यज्ञ इस रीति से चल रहा था। वहाँ अन्न के पर्वतों-से महान् ढेर दिखायी देते थे, दही की कुल्यायें बह रही थीं और घी के ताल भरे हुए थे।

राजा युधिष्ठिर के उस यज्ञ में अनेक देशों के लोग आये हुए थे। राजन् जनमेजय! ऐसा प्रतीत होता था मानो विभिन्न जनपदों से युक्त सम्पूर्ण जम्बूद्वीप ही राजा युधिष्ठिर के उस महायज्ञ में आ जुटा हो।

राजा युधिष्ठिर की इस भव्य यज्ञभूमि और वहाँ चल रहे इस अथाह अन्नदान का प्रबन्ध सीधे भीमसेन के हाथों में था। भीमसेन तो स्वयं अपने समय के श्रेष्ठतम पाकविद् थे। इस विधा में उनकी ख्याति दिव्य पाकविद् नल के ही समान है। राजा युधिष्ठिर का आदेश था कि ऐसे ख्याति-प्राप्त भीमसेन स्वयं ही निरन्तर अन्नदान की व्यवस्था देखें। जहाँ भीमसेन अन्न परोस रहे हों वहाँ किसी का अतृप्त रह जाना तो सम्भव ही नहीं हो सकता था। उस यज्ञ में सर्वत्र व्याप्त सन्तुष्टि का वर्णन करते हुए महर्षि व्यास कहते हैं –

[१५] महाभारत *आश्वमेधिक* ८५.३५-४०, पृ.६२८३।

न तत्र कृपणः कश्चिन्न दरिद्रो बभूव ह।
क्षुधितो दुःखितो वापि प्राकृतो वापि मानवः।
भोजनं भोजनार्थिभ्यो दापयामास शत्रुहा।
भीमसेनो महातेजाः सततं राजशासनात्॥[१६]

उस यज्ञभूमि में कोई भी दीन-दरिद्र नहीं रह गया था, कोई भूखा नहीं था, कोई किसी प्रकार के दुःख से दुःखित नहीं था। वास्तव में उस यज्ञ में पहुँचकर कोई मानव मात्र प्राकृत, मात्र सामान्य जन-सा नहीं रह गया था। वहाँ सभी विशिष्ट जन ही हो गये थे। उस यज्ञभूमि में शत्रुदमन महातेजस्वी भीमसेन स्वयं, राजा युधिष्ठिर की आज्ञा से सभी भोजनार्थियों को भोजन करवाने के कार्य में सतत तत्पर रहते थे।

भोजनार्थियों को भोजन देना और सब का दुःख-दारिद्र्य एवं क्षुधा दूर कर सब को विशिष्ट जन-सा बना देना ही मानो युधिष्ठिर के इस महान् यज्ञ का प्राप्य है। यज्ञ के वर्णन का उपसंहार करते हुए महर्षि व्यास सभी देशों से आये असंख्य जनों की इस अतीव सन्तुष्टि के भाव को ही पुनः पुनः चित्रित करते हैं। यज्ञ के विधिपूर्वक सम्पन्न होने पर महर्षि व्यास कहते हैं –

मत्तप्रमत्तमुदितं सुप्रीतयुवतीजनम्।
मृदङ्गशङ्खनादैश्च मनोरममभूत् तदा।
दीयतां भुज्यतां चेष्टं दिवारात्रमवारितम्।
तं महोत्सवसंकाशं हृष्टपुष्टजनाकुलम्।
कथयन्ति स्म पुरुषा नानादेशनिवासिनः।
वर्षित्वा धनधाराभिः कामै रत्नै रसैस्तथा।
विपाप्मा भरतश्रेष्ठः कृतार्थः प्राविशत् पुरम्॥[१७]

वह यज्ञभूमि सुख से मत्त-प्रमत्त एवं आनन्द से प्रमुदित हो रहे लोगों से परिपूर्ण थी। युवतियाँ वहाँ अत्यन्त प्रीतिपूर्वक विचरण कर रही थीं। मृदङ्ग एवं शङ्ख आदि के नाद से यज्ञभूमि और भी मनोरम हो रही थी।

---

[१६] महाभारत *आश्वमेधिक* ८८.२३-२४, पृ.६२८९।
[१७] महाभारत *आश्वमेधिक* ८९..४२-४४, पृ.६२९३।

'दीजिये! खिलाइये! जितने की किसी की इच्छा हो, उतना देते जाइये! खिलाते जाइये!' यही शब्द वहाँ दिन-रात बिना रुके सुनायी दे रहे थे।

विभिन्न देशों से आये हुए लोग असंख्य हृष्ट-पुष्ट लोगों से आकीर्ण उस महोत्सव की चर्चा दीर्घ काल तक करते रहे।

इस प्रकार उस यज्ञ में धाराप्रवाह धन, रत्न, रस एवं अन्य सब कमनीय वस्तुओं की वर्षा कर भरतश्रेष्ठ राजा युधिष्ठिर पापरहित एवं कृतार्थ हो अपने पुर में प्रविष्ट हुए।